

Chapter बारह

वृत्रासुर की यशस्वी मृत्यु

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार स्वर्ग के राजा इन्द्र ने बहुत अनिच्छापूर्वक वृत्रासुर का वध किया।

बातें कर चुकने के बाद वृत्रासुर ने अत्यन्त क्रोध के साथ इन्द्र पर अपना त्रिशूल चलाया,

किन्तु इन्द्र ने उसके त्रिशूल से कई गुना अपना शक्तिशाली वज्र चलाकर त्रिशूल को खण्ड-खण्ड कर दिया और वृत्रासुर की एक भुजा काट ली। फिर भी वृत्रासुर ने एक ही भुजा से इन्द्र पर अपने लोहे के परिघ से प्रहार किया जिससे इन्द्र के हाथ से वज्र छूट गया। इस पर इन्द्र अत्यधिक लज्जित हुआ और उसने भूमि से अपना वज्र नहीं उठाया, किन्तु वृत्रासुर ने इन्द्र को प्रोत्साहित किया कि वह वज्र उठाकर पुनः युद्ध करे। तब वृत्रासुर ने इन्द्र को उपदेश देते हुए इस प्रकार कहा—

“पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही विजय तथा पराजय के कारण हैं। मूर्ख तथा धूर्त यह नहीं जानते कि परमेश्वर ही समस्त कारणों के कारण हैं और इस प्रकार विजय या पराजय का श्रेय स्वयं लेना चाहते हैं, किन्तु वास्तव में प्रत्येक वस्तु परमेश्वर के ही अधीन है। उनके अतिरिक्त अन्य कोई स्वतंत्र नहीं है। पुरुष तथा प्रकृति भगवान् के ही अधीन हैं, क्योंकि उन्हीं के निरीक्षण में सुचारु रूप से सब कुछ घटित होता है। प्रत्येक कार्य में परमेश्वर का हाथ न दिखने से मूर्ख अपने को ही प्रत्येक वस्तु का शासक तथा नियामक मान बैठता है। किन्तु जब उसे ज्ञान होता है कि असली नियामक श्रीभगवान् हैं, तो वह समस्त दुख, सुख, भय तथा अपवित्रता की प्रासंगिकताओं से मुक्त हो जाता है।” इस प्रकार इन्द्र तथा वृत्रासुर में लड़ाई ही नहीं हुई वरन् दार्शनिक वार्ताएँ भी हुईं। इसके बाद वे फिर से लड़ने लगे।

इस बार इन्द्र अधिक शक्तिशाली था और उसने वृत्रासुर की दूसरी भुजा भी काट दी। तब वृत्रासुर ने भीमकाय रूप धारण कर लिया और इन्द्र को निगल लिया, किन्तु वृत्रासुर के पेट में भी इन्द्र अपने आपको नारायण कवच नामक जन्तर से सुरक्षित रख सका। इस प्रकार वह वृत्रासुर के पेट से बाहर आया और अपने शक्तिशाली वज्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। उसे असुर का सिर काटने में पूरा एक वर्ष लग गया।

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ
 मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः ।
 शूलं प्रगृह्याभ्यपतत्सुरेन्द्रं
 यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-ऋषिः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार; जिहासुः—त्यागने के लिए उत्सुक; नृप—हे राजा परीक्षित; देहम्—शरीर; आजौ—युद्ध में; मृत्युम्—मृत्यु; वरम्—श्रेष्ठ; विजयात्—विजय से; मन्यमानः—सोचते हुए; शूलम्—त्रिशूल; प्रगृह्य—लेकर; अभ्यपतत्—आक्रमण कर दिया; सुर-इन्द्रम्—स्वर्ग के राजा इन्द्र पर; यथा—जिस प्रकार; महा-पुरुषम्—श्रीभगवान् पर; कैटभः—कैटभ नामक असुर ने; अप्सु—जब सारा ब्रह्माण्ड जलमग्न था।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—अपना शरीर छोड़ने की इच्छा से वृत्रासुर ने विजय की अपेक्षा युद्ध में अपनी मृत्यु को श्रेयस्कर समझा। हे राजा परीक्षित! उसने अत्यन्त बलपूर्वक अपना त्रिशूल उठाया और बड़े वेग से स्वर्ग के राजा पर उसी प्रकार से आक्रमण किया जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के जलमग्न होने पर कैटभ ने श्रीभगवान् पर बड़े ही बल से आक्रमण किया था।

तात्पर्य : यद्यपि वृत्रासुर ने इन्द्र को बारम्बार प्रेरित किया कि वह उसे अपने वज्र से मार डाले, किन्तु इन्द्र इतने बड़े भक्त को मारना नहीं चाहता था। इसलिए वज्र नहीं चला रहा था। अतः जब वृत्रासुर निराश हो गया कि उसके प्रेरित करने पर भी वह आनाकानी कर रहा है, तो उसने बड़े वेग से इन्द्र पर अपना त्रिशूल चलाया। वृत्रासुर को विजय में कोई रुचि नहीं थी; वह तो चाहता था कि वह मारा जाये जिससे तुरन्त भगवान् के धाम जा सके। जैसा कि भगवद्गीता (४.९) में पुष्टि की गई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—इस शरीर को त्यागने के बाद भक्त तुरन्त भगवान् कृष्ण के धाम चला जाता है और दूसरा शरीर धारण करने के लिए कभी नहीं लौटता। यही वृत्रासुर का अभिप्राय था।

ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्व-
 माविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः ।
 क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो
 हतोऽसि पापेति रुषा जगाद ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; युग-अन्त-अग्नि—प्रत्येक कल्पान्त की अग्नि के समान; कठोर—तीखी; जिह्वम्—नोकों वाली; आविध्य—घुमाकर; शूलम्—त्रिशूल को; तरसा—वेग से; असुर-इन्द्रः—असुरों में परम वीर, वृत्रासुर; क्षिप्त्वा—फेंककर; महा-इन्द्राय—राजा इन्द्र पर; विनद्य—गरजकर; वीरः—महान् वीर (वृत्रासुर); हतः—मरा हुआ; असि—तुम हो; पाप—हे पापी; इति—इस प्रकार; रुषा—अत्यन्त क्रोध से; जगाद—चिल्लाया।

तब असुरों में महान् वीर वृत्रासुर ने कल्पान्त (प्रलय) की धधकती अग्नि की लपटों के समान तीखी नोकों वाले त्रिशूल को अत्यन्त क्रोध एवं वेग से इन्द्र पर चला दिया। उसने गरजकर कहा, “अरे पापी, मैं तेरा वध किये देता हूँ।”

ख आपतत्तद्विचलद्ग्रहोल्कव-
निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः ।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद्
भुजं च तस्योरगराजभोगम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

खे—आकाश में; आपतत्—उसकी ओर उड़ कर; तत्—वह त्रिशूल; विचलत्—चक्कर लगाता हुआ; ग्रह-उल्क-वत्—गिरते तारे के समान; निरीक्ष्य—देखकर; दुष्प्रेक्ष्यम्—न देखा जा सकने वाला; अजात-विक्लवः—भयभीत न होकर; वज्रेण—वज्र से; वज्री—वज्र को धारण करने वाला इन्द्र; शत-पर्वणा—एक सौ गाँठों (जोड़ों) वाला; आच्छिनत्—काट लिया; भुजम्—बाँह; च—तथा; तस्य—उस (वृत्रासुर) का; उरग-राज—महान् सर्प वासुकि का; भोगम्—शरीर की तरह।

आकाश में उड़ता हुआ वृत्रासुर का त्रिशूल प्रकाशमान उल्का के समान था। यद्यपि इस प्रज्वलित आयुध की ओर देख पाना कठिन था, किन्तु राजा इन्द्र ने निर्भोक होकर अपने वज्र से उसके खण्ड-खण्ड कर दिये। उसी समय उसने वृत्रासुर की एक भुजा काट ली, जो सर्पों के राजा वासुकि के शरीर के समान मोटी थी।

छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः
संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम् ।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं
वज्रं च हस्तात्र्यपतन्मघोनः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

छिन्न—कटा हुआ; एक—एक; बाहुः—जिसकी भुजा; परिघेण—लौह के बने बल्लम (परिघ) से; वृत्रः—वृत्रासुर; संरब्धः—अत्यन्त क्रुद्ध होकर; आसाद्य—पहुँचकर; गृहीत—पकड़ते हुए; वज्रम्—वज्र को; हनौ—ठोड़ी पर; तताड—

प्रहार किया; इन्द्रम्—इन्द्रदेव पर; अथ—भी; अमर-इभम्—उसका हाथी; वज्रम्—वज्र; च—तथा; हस्तात्—हाथ से; न्यपतत्—गिर पड़ा; मघोनः—राजा इन्द्र के।

शरीर से एक भुजा के कट जाने पर भी वृत्रासुर क्रोधपूर्वक राजा इन्द्र के निकट पहुँचा और लोहे के बल्लम (परिघ) से उसकी ठोड़ी पर प्रहार किया। उसने इन्द्र के हाथी पर भी प्रहार किया। इससे इन्द्र के हाथ से उसका वज्र गिर गया।

वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत्
सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत्पुरुहूतसङ्घटं
निरीक्ष्य हा हेति विचुकुशुर्भृशम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

वृत्रस्य—वृत्रासुर का; कर्म—कार्य; अति—अत्यन्त; महा—महान्; अद्भुतम्—अद्भुत, विस्मयजनक; तत्—वह; सुरा—देवता; असुराः—तथा सारे असुर; चारण—चारण; सिद्ध-सङ्घाः—तथा सिद्धों का समाज; अपूजयन्—प्रशंसा किया गया; तत्—वह; पुरुहूत-सङ्घटम्—इन्द्र की संकट-पूर्ण दशा; निरीक्ष्य—देखकर; हा हा—हाय हाय; इति—इस प्रकार; विचुकुशुः—विलाप करने लगे; भृशम्—अत्यधिक।

विभिन्न लोकों के वासी, यथा देवता, असुर, चारण तथा सिद्ध, वृत्रासुर के कार्य की प्रशंसा करने लगे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि इन्द्र महान् संकट में है, तो वे 'हाय हाय' करके विलाप करने लगे।

इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जित-
श्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः ।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो
जहि स्वशत्रुं न विषादकालः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; न—नहीं; वज्रम्—वज्र; जगृहे—धारण किया; विलज्जितः—लज्जित होकर; च्युतम्—गिरा हुआ; स्व-हस्तात्—अपने हाथ से; अरि-सन्निधौ—अपने शत्रु के समक्ष; पुनः—फिर; तम्—उससे; आह—कहा; वृत्रः—वृत्रासुर ने; हरे—हे इन्द्र; आत्त-वज्रः—अपना वज्र उठाकर; जहि—मारो; स्व-शत्रुम्—अपने शत्रु को; न—नहीं; विषाद-कालः—विलाप करने का समय।

शत्रु की उपस्थिति में अपने हाथ से वज्र गिर जाने पर इन्द्र एक प्रकार से पराजित हो गया था और अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने पुनः अपना आयुध उठाने का दुस्साहस नहीं

किया। किन्तु वृत्रासुर ने उसे यह कहते हुए प्रोत्साहित किया, “अपना वज्र उठा लो और अपने शत्रु को मार दो। यह भाग्य को कोसने का अवसर नहीं है।”

युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां
जयः सदैकत्र न वै परात्मनाम् ।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं
सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

युयुत्सताम्—जो युद्ध के लिए उत्सुक हैं; कुत्रचित्—कभी-कभी; आततायिनाम्—आयुधों से लैस; जयः—विजय; सदा—सदैव; एकत्र—एक स्थान में; न—नहीं; वै—निस्सन्देह; पर-आत्मनाम्—अधीन जीवात्माओं का, जो परमात्मा के निर्देश में कार्य करती हैं; विना—के अतिरिक्त; एकम्—एक; उत्पत्ति—सृष्टि; लय—संहार; स्थिति—तथा पालन का; ईश्वरम्—नियन्ता; सर्व-ज्ञम्—जो सब कुछ (भूत, वर्तमान, भविष्य) जानता है; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—भोक्ता; सनातनम्—नित्य ।

वृत्रासुर ने आगे कहा—हे इन्द्र! आदि भोक्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के अतिरिक्त किसी की सदैव विजय होना निश्चित नहीं है। वे ही उत्पत्ति, पालन और प्रलय के कारण हैं और सब कुछ जानने वाले हैं। अधीन होने तथा भौतिक देहों को धारण करने के लिए बाध्य होने के कारण युद्धप्रिय अधीनस्थ कभी विजयी होते हैं, तो कभी पराजित होते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (१५.१५) में भगवान् कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

“मैं सबों के हृदयों में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।” जब दो पक्ष लड़ते हैं, तो लड़ाई वास्तव में परमात्मास्वरूप श्रीभगवान् के निर्देशन में होती है। भगवान् ने गीता (३.२७) में अन्यत्र कहा है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

“सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं, किन्तु भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न अहंकार से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।” जीवात्माएँ परमेश्वर के

निर्देशानुसार ही कार्य करती हैं। भगवान् भौतिक प्रकृति को आदेश देते हैं और वह जीवात्माओं के लिए सुविधाओं की व्यवस्था करती है। जीवात्माएँ स्वतंत्र नहीं होतीं, यद्यपि मूर्खतावश वे अपने को ही कर्ता समझ बैठती हैं।

विजय तो सदैव श्रीभगवान् के पक्ष की होती है। अधीनस्थ जीवात्माएँ तो श्रीभगवान् की व्यवस्था के अन्तर्गत लड़ती हैं। विजय या पराजय वस्तुतः उनकी नहीं होती, यह तो भौतिक प्रकृति के माध्यम से भगवान् की व्यवस्था के द्वारा होती है। विजय पर गर्व या हार पर शोक करना व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् पर पूरी तरह से आश्रित रहे जो समस्त जीवात्माओं की विजय तथा पराजय के लिए उत्तरदायी हैं। भगवान् का उपदेश है—*नित्यं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः*—“तुम अपना नित्य कर्म करो, क्योंकि निष्कर्म से कर्म श्रेष्ठ है।” जीवात्मा को अपनी स्थिति के अनुसार कर्म करने का आदेश मिलता है। जय या पराजय तो परमेश्वर पर निर्भर है। *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्*—“तुम्हें निर्दिष्ट कर्म करने का अधिकार है, किन्तु तुम कर्मों के फल के अधिकारी नहीं हो।” मनुष्य को चाहिए कि अपनी स्थिति के अनुसार निष्ठापूर्वक कर्म करे। विजय या पराजय तो भगवान् के हाथ में है।

वृत्रासुर ने इन्द्र को यह कह कर प्रोत्साहित किया, “मेरी विजय से तुम दुखी मत हो। युद्ध बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। इस के बजाय तुम अपना कर्तव्य करो। जब श्रीकृष्ण चाहेंगे तो तुम्हारी विजय अवश्य होगी।” कृष्णभावनामृत-आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के लिए यह श्लोक अत्यन्त शिक्षाप्रद है। न तो विजय पर हमें प्रसन्न होना चाहिए, न हार पर दुखी। हमें श्रीकृष्ण या श्री चैतन्य महाप्रभु की इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए, हमें जीत अथवा हार की परवाह नहीं करनी चाहिए। हमारा एकमात्र कर्तव्य है निष्ठापूर्वक कर्म करना जिससे श्रीकृष्ण हमारे कार्यों को मान्यता दें।

लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।

द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

लोकाः—विभिन्न लोक; स-पालाः—अपने प्रमुख लोकपाल या अधिपतियों सहित; यस्य—जिसका; इमे—ये सब; श्वसन्ति—जीते हैं; विवशाः—नितान्त आश्रित; वशे—वश में; द्विजाः—पक्षी; इव—सदृश; शिचा—जाल के द्वारा; बद्धाः—बंधे हुए; सः—वह; कालः—काल, समय; इह—इसमें; कारणम्—कारण।

समस्त लोकों के प्रमुख लोकपालों सहित, इस ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों के समस्त जीव, पूर्णतः भगवान् के वश में हैं। वे जाल में पकड़े गये उन पक्षियों के समान कार्य करते हैं, जो स्वतंत्रतापूर्वक विचरण नहीं कर सकते।

तात्पर्य : सुरों तथा असुरों में यह अन्तर है कि सुर जानते हैं कि श्रीभगवान् की इच्छा के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता, जबकि असुर भगवान् की परम इच्छा को नहीं समझ सकते हैं। इस युद्ध में वृत्रासुर वास्तव में सुर है और इंद्र असुर। कोई भी स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकता; प्रत्येक प्राणी श्रीभगवान् के निर्देशानुसार कार्य करता है। अतः विजय तथा पराजय मनुष्य के कर्मफलों के अनुसार ही आती है। इसका निर्णय करने वाले परमेश्वर हैं (कर्मणा दैवनेत्रेण)। चूँकि हम अपने कर्मों के अनुसार भगवान् के निर्देशन के अन्तर्गत कार्य करते हैं अतः ब्रह्मा से लेकर एक तुच्छ चींटी तक कोई भी स्वतंत्र नहीं है। हम जीतें या हारें, किन्तु परमेश्वर तो सदैव विजयी रहता है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य उनके निर्देशन में कार्य करता है।

ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च ।

तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ओजः—इन्द्रियों का बल; सहः—मनोबल; बलम्—शरीर का बल; प्राणम्—जीवित अवस्था; अमृतम्—अमरत्व; मृत्युम्—मृत्यु; एव—निस्सन्देह; च—भी; तम्—उस (परमेश्वर) को; अज्ञाय—बिना जाने; जनः—मूर्ख पुरुष; हेतुम्—कारण; आत्मानम्—शरीर; मन्यते—मानता है; जडम्—यद्यपि पत्थर की तरह।

हमारी इन्द्रियों का शौर्य, मानसिक शक्ति, दैहिक बल, जीवन शक्ति, अमरत्व एवं मृत्यु सभी कुछ परम भगवान् की देखरेख के अधीन हैं। इससे अनवगत मूर्ख लोग अपने जड़ शरीर को ही अपने कार्यकलापों का कारण मानते हैं।

यथा दारुमयी नारी यथा पत्रमयो मृगः ।

एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; दारु-मयी—लकड़ी की बनी; नारी—स्त्री; यथा—जिस प्रकार; पत्र-मयः—पत्तियों से बना; मृगः—पशु; एवम्—इस प्रकार; भूतानि—सभी वस्तुएँ; मघवन्—हे राजा इन्द्र; ईश—श्रीभगवान्; तन्त्राणि—आश्रित रह कर; विद्धि—कृपया जानें; भोः—हे महाशय ।

हे देवराज इन्द्र! जिस प्रकार काठ की पुतली जो स्त्री के समान प्रतीत होती है अथवा घास-फूस का बना हुआ पशु न तो हिल-डुल सकता है और न अपने आप नाच सकता है, वरन् उसे हाथ से चलाने वाले व्यक्ति पर पूरी तरह निर्भर रहता है, उसी प्रकार हम सभी परम नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इच्छानुसार नाचते हैं। कोई भी स्वतंत्र नहीं है।

तात्पर्य : इसकी पुष्टि श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि ५.१४२) में की गई है—

एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य ।

यारे यैछे नाचाय, से तैछे करे नृत्य ॥

“केवल भगवान् श्रीकृष्ण परम नियन्ता हैं और अन्य सभी उनके दास हैं। वे जिस प्रकार नचाते हैं सभी वैसा ही नाचते हैं।” हम सभी श्रीकृष्ण के दास हैं, हमारी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। हम सब श्रीभगवान् की इच्छानुसार नाच रहे हैं, किन्तु अज्ञान तथा मोह के कारण हम अपने को परम इच्छा से स्वतंत्र मानते हैं। इसलिए ब्रह्म-संहिता (५.१) में कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

“श्रीकृष्ण, जिन्हें गोविन्द कहा जाता है, परम नियन्ता हैं। उनका शरीर सनातन, आनन्दमय तथा चिन्मय है। वे सबके उद्गम हैं। वे अनादि हैं, क्योंकि वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं।”

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः ।

शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पुरुषः—समस्त भौतिक शक्ति का जनक; प्रकृतिः—भौतिक शक्ति या भौतिक प्रकृति; व्यक्तम्—अभिव्यक्ति के सिद्धान्त (महत् तत्त्व); आत्मा—मिथ्या अहंकार; भूत—पाँच भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—दस इन्द्रियाँ; आशयाः—मन, बुद्धि तथा चेतना; शक्नुवन्ति—समर्थ हैं; अस्य—इस ब्रह्माण्ड के; सर्ग-आदौ—सृष्टि इत्यादि में.; न—नहीं; विना—रहित; यत्—जिसकी; अनुग्रहात्—कृपा से।

तीनों पुरुष—कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—भौतिक प्रकृति, समग्र भौतिक शक्ति (महत् तत्त्व), मिथ्या अहंकार, पाँचों भौतिक तत्त्व, भौतिक इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा चेतना, ये सब भगवान् के आदेश के बिना भौतिक जगत की सृष्टि नहीं कर सकते।

तात्पर्य : जैसाकि विष्णु पुराण में पुष्टि की गई है—*परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदम् अखिलं जगत्*—हम जितनी भी अभिव्यक्तियों का अनुभव करते हैं, वे भगवान् की शक्तियाँ के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। ये शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकतीं। इसकी पुष्टि भी स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.१०) में इस प्रकार की है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—“हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देश से कार्यशील है और समस्त जड़-चेतन प्राणियों को उत्पन्न कर रही है।” केवल श्रीभगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति, जो चौबीस तत्त्वों के रूप में प्रकट होती है, जीवात्मा के लिए विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं। वेदों में भगवान् का कथन है—

मदीयं महिमानं च परब्रह्मेति शब्दितम्।

वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥

“चूँकि प्रत्येक वस्तु मेरी शक्ति का प्राकट्य है, इसलिए मुझे परब्रह्म के रूप में जाना जाता है। इसलिए प्रत्येक प्राणी को मुझसे मेरे अपने महिमामय कार्यों के बारे में सुनना चाहिए।” *भगवद्गीता* (१०.२) में भी भगवान् ने कहा है—*अहं आदिर्हि देवानाम्*—“मैं समस्त देवताओं का मूल हूँ।” अतः श्रीभगवान् प्रत्येक वस्तु के मूल (आदि) हैं और कोई भी उनसे स्वतंत्र नहीं है। श्रील मध्वाचार्य भी कहते हैं—*अनीशजीव रूपेण*—जीवात्मा अनीश होता है, वह नियामक कभी नहीं होता, वह सदैव अधीनस्थ रहता है। अतः जब कोई जीवात्मा स्वतंत्र ईश्वर या भगवान्

होने का अभिमान दिखाता है, तो इसे उसकी मूर्खता समझनी चाहिए। ऐसी मूर्खता का वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम् ।

भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अविद्वान्—ज्ञानरहित, मूर्ख; एवम्—इस प्रकार; आत्मानम्—स्वयं; मन्यते—मानता है; अनीशम्—यद्यपि अन्यो पर पूर्णतः आश्रित; ईश्वरम्—परम नियन्ता के रूप में, स्वतंत्र; भूतैः—जीवात्माओं के द्वारा; सृजति—वह (भगवान्) उत्पन्न करता है; भूतानि—अन्य जीवों को; ग्रसते—लील लेता है; तानि—उनको; तैः—अन्य जीवों के द्वारा; स्वयम्—स्वयं।

ज्ञानरहित मूर्ख व्यक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ सकता। वह शाश्वत अधीन रहकर भी अपने आपको झूठे ही सर्वोच्च मानता है। यदि कोई यह सोचे कि अपने पूर्व सकाम कर्मों के अनुसार उसका भौतिक शरीर उसके माता-पिता द्वारा उत्पन्न किया गया है और उसी शरीर को दूसरा कोई विनष्ट कर देता है जैसे कि बाघ दूसरे पशु को निगल जाता है, तो यह सही ज्ञान नहीं है। श्रीभगवान् स्वयं सृष्टि करते हैं और अन्य जीवों के द्वारा जीवों को निगलते रहते हैं।

तात्पर्य : *कर्ममीमांसा* दर्शन के अनुसार, मनुष्य का कर्म या पूर्व सकाम कर्म ही प्रत्येक वस्तु का कारण है, अतः कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। जो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वे मूर्ख हैं। जब पिता बच्चे की सृष्टि करता है, तो वह स्वतंत्र रूप से ऐसा नहीं करता; वह ऐसा करने के लिए परमेश्वर द्वारा प्रेरित किया जाता है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहा है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*—“मैं सबों के हृदयों में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।” जब तक प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान् का आदेश प्राप्त नहीं होता, मनुष्य कोई भी वस्तु उत्पन्न करने के लिए प्रेरित नहीं होता। अतः माता-पिता जीवात्मा के सृष्टिकर्ता नहीं हैं। जीवात्मा के कर्मों अर्थात् सकाम कर्मों के अनुसार वह पिता के वीर्य में स्थित होकर माता के गर्भ में पहुँचाया जाता है। तब माता तथा पिता के शरीर

के अनुसार (यथायोनि यथाबीजम्) जीव शरीर ग्रहण करता है और सुख या दुख भोगने के लिए जन्मता है। अतः मनुष्य के जन्म का आदि कारण परमेश्वर है। इसी प्रकार से मनुष्य की मृत्यु का कारण भी वही है। कोई भी स्वतंत्र नहीं है; सभी परतंत्र हैं, आश्रित हैं। इसका सही निष्कर्ष यह निकला कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही एकमात्र स्वतंत्र पुरुष हैं।

आयुः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यमाशिषः पुरुषस्य याः ।

भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्ययाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

आयुः—दीर्घजीविता; श्रीः—ऐश्वर्य; कीर्तिः—यश; ऐश्वर्यम्—शक्ति; आशिषः—आशीर्वाद, वर; पुरुषस्य—जीवात्मा का; याः—जो; भवन्ति—होते हैं; एव—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; तत्-काले—ठीक समय पर; यथा—जिस प्रकार; अनिच्छोः—न चाहने वाले का; विपर्ययाः—विपरीत परिस्थितियाँ।

जिस प्रकार मरने की इच्छा न रखने पर भी मनुष्य को मृत्यु के समय अपनी आयु, ऐश्वर्य, यश तथा अन्य सब कुछ त्याग देना पड़ता है उसी प्रकार जब ईश्वर की कृपा होती है, तो विजय के नियत समय के अनुकूल होने पर ये सारी वस्तुएँ उसे मिल जाती हैं।

तात्पर्य : झूठे में फूले न समाना उचित नहीं, यदि कोई यह कहे कि वह अपने प्रयास से ऐश्वर्यवान्, विद्वान्, रूपवान् आदि बन सका है। ऐसा सौभाग्य ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार, न तो कोई मरना चाहता है, न कोई निर्धन या कुरूप होना चाहता है। तो फिर जीव को अपनी मर्जी के विरुद्ध ऐसे अनिच्छित कष्ट क्यों मिलते हैं? यह परमेश्वर की कृपा या ताड़ना का ही फल है कि मनुष्य को भौतिक लाभ या हानि होती है। कोई स्वतंत्र नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर की कृपा या ताड़ना के अधीन है। बँगला में एक सामान्य कहावत है कि भगवान् के दस हाथ होते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनका सर्वत्र नियंत्रण है—आठों दिशाओं में तथा ऊपर और नीचे। यदि वे अपने दस हाथों से हमसे सब कुछ छीन लेना चाहते हैं, तो हम अपने दो हाथों से कुछ भी नहीं बचा सकते। इसी प्रकार यदि वे अपने दसों हाथों से हमें आशीष देना चाहें तो हम अपने दो हाथों से यह सब कुछ कैसे प्राप्त कर सकेंगे? दूसरों शब्दों में आशीष-

समूह हमारी इच्छाओं से बढ़कर है। यद्यपि हम अपनी सम्पत्ति से विलग नहीं होना चाहते, निष्कर्ष यह है कि कभी-कभी भगवान् उसे बलपूर्वक हमसे छीन लेते हैं और कभी वे हमको इतने वर देते हैं कि हम उन सबको ग्रहण नहीं कर सकते। अतः चाहे सुख हो या दुख, हम स्वतंत्र नहीं हैं; सब कुछ श्रीभगवान् की परम इच्छा पर निर्भर करता है।

तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि ।

समः स्यात्सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः (श्रीभगवान् की इच्छा पर पूर्णतया निर्भर होने के कारण); अकीर्ति—अपयश का; यशसोः—तथा यश; जय—विजय का; अपजययोः—तथा पराजय; अपि—भी; समः—समान; स्यात्—हो; सुख-दुःखाभ्याम्—सुख तथा दुख से; मृत्यु—मृत्यु; जीवितयोः—अथवा जीवित का; तथा—और।

चूँकि प्रत्येक वस्तु भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर है, अतः मनुष्य को यश-अपयश, हार-जीत तथा जीवन-मृत्यु में निश्चिन्त रह कर समभाव बनाये रखना चाहिए।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।

तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद स न बध्यते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतो गुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—इस प्रकार; प्रकृतेः—भौतिक प्रकृति के; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा के; गुणाः—गुण; तत्र—ऐसी स्थिति में; साक्षिणम्—गवाह, साक्षी; आत्मानम्—आत्मा; यः—जो कोई; वेद—जानता है; सः—वह; न—नहीं; बध्यते—बंधता है।

जो पुरुष यह जानता है कि सतो, रजो तथा तमो गुण—ये तीनों आत्मा के नहीं, वरन् भौतिक प्रकृति के गुण हैं और जो यह जानता है कि शुद्ध आत्मा इन गुणों के कर्मों तथा फलों का साक्षी मात्र है, उसे मुक्त पुरुष मानना चाहिए। वह इन गुणों से नहीं बंधता।

तात्पर्य : भगवान् ने भगवद्गीता (१८.५४) में व्याख्या की है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“इन्द्रियातीत मनुष्य को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूर्णरूपेण प्रसन्न हो

जाता है। वह न शोक करता है और न कोई इच्छा ही करता है, वह सब प्राणियों में समभाव रखता है। उस अवस्था में उसे मेरे शुद्ध भक्तियोग की प्राप्ति होती है।” आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर अर्थात् ब्रह्मभूत अवस्था में मनुष्य जानता है कि जीवन-काल में जो भी घटित होता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के दूषण (कल्मष) से ही होता है। जीवात्मा, जो शुद्ध आत्मा है उसे इन गुणों से कुछ भी लेना-देना नहीं। भौतिक जगत के झंझावात में सब कुछ तेजी से बदल जाता है, किन्तु यदि कोई मौन रहकर झंझावात के कर्मों तथा फलों का निरीक्षण करता है, तो उसे मुक्त हुआ समझिये। मुक्त आत्मा का असली गुण यह है कि वह माया के कर्म तथा फल से अविचलित रहकर कृष्णभक्त बना रहता है। ऐसा मुक्त पुरुष सदैव प्रसन्न रहता है। उसे न तो शोक होता है, न किसी वस्तु की इच्छा होती है। चूँकि परमेश्वर प्रत्येक वस्तु को देने वाला है, अतः जीवात्मा को जो उन्हीं पर आश्रित है, अपनी इन्द्रियतृप्ति हेतु न तो विरोध करना चाहिए, न ही कोई वस्तु स्वीकार करनी चाहिए, अपितु प्रत्येक वस्तु को ईश्वर का अनुग्रह मानते हुए प्राप्त करना चाहिए और समस्त परिस्थितियों में स्थिर-चित्त बने रहना चाहिए।

पश्य मां निर्जितं शत्रु वृक्णायुधभुजं मृधे ।
घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पश्य—देखो; माम्—मुझको; निर्जितम्—पहले से पराजित; शत्रु—हे शत्रु; वृक्ण—काट डालो; आयुध—मेरा हथियार; भुजम्—तथा मेरी भुजा; मृधे—इस युद्ध में; घटमानम्—अब भी प्रयत्नशील; यथा-शक्ति—अपनी शक्ति के अनुसार; तव—तुम्हारा; प्राण—जीवन; जिहीर्षया—ले लेने की इच्छा से।

अरे मेरे शत्रु! जरा मेरी ओर देख। मैं पहले ही पराजित हो चुका हूँ, क्योंकि मेरा हथियार तथा मेरी भुजा पहले ही खंड-खंड हो चुके हैं। तुमने मुझे पहले ही परास्त कर दिया है, तो भी मैं तुम्हें मारने की प्रबल इच्छा के कारण तुमसे लड़ने का भरसक प्रयत्न कर रहा हूँ। ऐसी विषम परिस्थिति में भी मैं तनिक भी दुखी नहीं हूँ। अतः तुम उदासीनता त्याग करके युद्ध जारी रखो।

तात्पर्य : वृत्रासुर इतना महान् एवं बलशाली था कि वस्तुतः वह इन्द्र के गुरु की भूमिका निभा रहा था। वह यद्यपि हारने ही वाला था, किन्तु उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह जानता था कि वह इन्द्र से हराया जाने वाला है और उसने स्वेच्छा से इसे स्वीकार किया था, किन्तु इन्द्र का शत्रु होने के नाते उसने इन्द्र को मारने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रकार उसने अपना कर्तव्य निभाया। मनुष्य को चाहिए कि यह जानते हुए भी कि क्या परिणाम होगा, सभी परिस्थितियों में अपना कर्तव्य निभाए।

प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः ।

अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

प्राण-ग्लहः—प्राणों की बाजी; अयम्—यह; समरः—युद्ध; इषु-अक्षः—तीर रूपी पाँसे; वाहन-आसनः—हाथी तथा घोड़े जैसे वाहन चौसर हैं; अत्र—यहाँ (इस जुएँ के खेल में); न—नहीं; ज्ञायते—ज्ञात है; अमुष्य—उस एक की; जयः—विजय; अमुष्य—अमुक की; पराजयः—हार।

अरे मेरे शत्रु! इस युद्ध को द्यूतक्रीड़ा का खेल मानो जिसमें हमारे प्राणों की बाजी लगी है, बाण पासे हैं और वाहक पशु चौसर हैं। कोई नहीं जानता कि कौन हारेगा और कौन जीतेगा। यह सब विधाता पर निर्भर है।

श्रीशुक उवाच

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत् ।

गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इन्द्रः—राजा इन्द्र ने; वृत्र-वचः—वृत्रासुर के वचन; श्रुत्वा—सुनकर; गत-अलीकम्—द्वैतभाव से रहित; अपूजयत्—पूजा की; गृहीत-वज्रः—वज्र धारण किये हुए; प्रहसन्—हँसते हुए; तम्—वृत्रासुर से; आह—कहा; गत-विस्मयः—आश्चर्यरहित होकर।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—वृत्रासुर के निष्कपट तथा निर्देशात्मक

वचन सुनकर राजा इन्द्र ने उसकी प्रशंसा की और अपने वज्र को पुनः हाथ में धारण कर लिया। इसके बाद बिना मोह या द्वैत-भाव से वह हँसा और वृत्रासुर से इस प्रकार

बोला।

तात्पर्य : देवताओं में श्रेष्ठ राजा इन्द्र को अपने शत्रु वृत्रासुर का जो असुर माना जाता था उपदेश सुनकर आश्चर्य हुआ। वह चकित था कि असुर होकर भी कितने ज्ञान की बातें कर रहा है। तब उसे प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज जैसे परम भक्तों की याद हो आई जो असुरों के ही कुल में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार उसकी आँखें खुल गईं। कभी-कभी तथाकथित असुरों में श्रीभगवान् के प्रति अतीव भक्तिभाव रहता है। इसलिए इन्द्र विश्वासपूर्वक वृत्रासुर की बातों पर हँसा।

इन्द्र उवाच

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी ।

भक्तः सर्वात्मनात्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—इन्द्र ने कहा; अहो—ओह; दानव—हे असुर; सिद्धः असि—तुम अब सिद्ध हो चुके हो; यस्य—जिसका; ते—तुम्हारी; मतिः—चेतना; ईदृशी—इस प्रकार की; भक्तः—परम भक्त; सर्व-आत्मना—विचलित हुए बिना; आत्मानम्—परमात्मा को; सुहृदम्—परम मित्र; जगत्-ईश्वरम्—श्रीभगवान् को।

इन्द्र ने कहा, हे असुरश्रेष्ठ! मैं देखता हूँ कि संकटमय स्थिति में होते हुए भी अपने विवेक तथा भक्तियोग में निष्ठा के कारण तुम श्रीभगवान् के पूर्ण भक्त तथा जन-जन के मित्र हो।

तात्पर्य : जैसा कि भगवद्गीता (६.२२) में कहा गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

“कृष्णभावनामृत में इस प्रकार निष्ठ व्यक्ति सत्य से कभी विमुक्त नहीं होता और इस की प्राप्ति होने पर वह समझता है कि इससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं है। ऐसी स्थिति को प्राप्त पुरुष बड़े से बड़े दुख के बीच में भी विचलित नहीं होता।” शुद्ध भक्त किसी भी चुनौतीपूर्ण परिस्थिति में विचलित नहीं होता। इन्द्र को आश्चर्य हुआ कि वृत्रासुर अविचलित भाव से भगवान् के

भक्तियोग में स्थिर हो चुका है, क्योंकि ऐसी मानसिकता किसी असुर के लिए असम्भव है। किन्तु, भगवान् की कृपा से कोई भी महान् भक्त बन सकता है (*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्*)। शुद्ध भक्त निश्चित रूप से भगवान् के धाम को लौट जाता है।

भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम् ।
यद्विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

भवान्—आप; अतार्षीत्—पार कर चुके हो; मायाम्—माया को; वै—निस्सन्देह; वैष्णवीम्—भगवान् विष्णु की; जन-मोहिनीम्—जनसमूह को मोहने वाली; यत्—क्योंकि; विहाय—त्याग कर; आसुरम्—असुरों का; भावम्—मानसिकता, भाव; महा-पुरुषताम्—महान् भक्त का पद; गतः—प्राप्त कर चुके हो।

तुमने भगवान् विष्णु की माया को पार कर लिया है और इस मुक्ति के कारण तुमने आसुरी भाव का परित्याग करके महान् भक्त का पद प्राप्त कर लिया है।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु महापुरुष हैं, अतः जो कोई वैष्णव बन जाता है, वह महा-पौरुष्य का पद प्राप्त कर लेता है। महाराज परीक्षित ने यह पद प्राप्त किया था। *पद्मपुराण* में देवता तथा असुर का अन्तर बतलाते हुए कहा गया है कि देवता भगवान् विष्णु का भक्त होता है, किन्तु असुर उसका उल्टा होता है—*विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः*। वृत्रासुर को असुर माना गया है, किन्तु, वास्तव में वह भक्त अर्थात् महापौरुष्य से कहीं अधिक योग्य था। यदि कोई किसी प्रकार से भगवान् का भक्त हो जाता है, तो उसका पद कैसा भी हो वह सिद्ध पुरुष के पद पर लाया जा सकता है। यदि कोई अनन्य भक्त इस प्रकार से भगवान् की सेवा करने का प्रयास करे तो यह सम्भव है। अतः शुकदेव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* (२.४.१८) में कहा है—

किरातहृणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा

आभीरशुम्भा यवनाः खसादयः ।

येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः

शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

“किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द पुलकश, आभीर, शुम्भ, यवन तथा खस आदि जातियाँ तथा दूसरे पापी लोग भगवान् के भक्तों की शरण ग्रहण करने से पवित्र हो जाते हैं क्योंकि वे परम् शक्ति हैं। उन सर्वशक्तिमान भगवान् को मेरा सादर नमस्कार है।” चाहे जो कोई भी हो, यदि वह शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करता है और उसके निर्देशानुसार अपने आचरण को ढालता है, तो वह पवित्र हो सकता है। तभी, चाहे वह किरात हो, आन्ध्र, हो या पुलिन्द हो वह पवित्र होकर महापौरुष्य के पद तक उठ सकता है।

खल्विदं महदाश्चर्यं यद्रजःप्रकृतेस्तव ।

वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

खलु—निस्सन्देह; इदम्—यह; महत् आश्चर्यम्—महान् आश्चर्य; यत्—जो; रजः—रजोगुण से प्रभावित; प्रकृतेः—जिसका स्वभाव; तव—तुम्हारा; वासुदेवे—भगवान् श्रीकृष्ण में; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; सत्त्व-आत्मनि—शुद्ध सतोगुण में स्थित; दृढा—दृढ़; मतिः—चेतना।

हे वृत्रासुर! असुर सामान्यतः रजोगुणी होते हैं, अतः यह कितना महान् आश्चर्य है। कहा जायेगा कि असुर होकर भी तुमने भक्त-भाव ग्रहण करके अपने मन को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव में स्थिर कर दिया है, जो सदैव शुद्ध सत्त्व में स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : राजा इन्द्र को विस्मय हो रहा था कि वृत्रासुर किस तरह महान् भक्त के पद तक उठ सका। जहाँ तक प्रह्लाद महाराज की बात है, वे नारद मुनि द्वारा दीक्षित थे, अतः वे असुर वंश में जन्म लेकर भी परम भक्त हो सकते थे। किन्तु वृत्रासुर के विषय में इन्द्र को कोई ऐसा कारण दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसलिए उसे आश्चर्य हुआ कि वृत्रासुर ऐसा उच्च भक्त था कि वह भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव के चरणकमलों में अपने मन को अविचलित भाव से स्थिर कर सका।

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।

विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसकी; भक्ति:—भक्ति; भगवति—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में; हरौ—भगवान् हरि में; निःश्रेयस-ईश्वरे—
परममुक्ति के नियामक; विक्रीडतः—तैरते या खेलते हुए; अमृत-अम्भोधौ—अमृत के समुद्र में; किम्—क्या लाभ है;
क्षुद्रैः—छोटे; खातक-उदकैः—गड्डों के जल से।

जो मनुष्य परम कल्याणकारी परमेश्वर हरि की भक्ति में स्थिर है, वह अमृत के समुद्र में तैरता है। उसके लिए छोटे-छोटे गड्डों के जल से क्या प्रयोजन ?

तात्पर्य : वृत्रासुर ने पहले (भागवत ६.११.२५) प्रार्थना की थी— न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् “मैं ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक यहाँ तक कि ध्रुवलोक के भी सुख की सुविधाओं की कामना नहीं करता, इस पृथ्वी या अधःलोकों की तो बात ही नहीं। मैं तो भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता हूँ।” यही शुद्ध भक्त का संकल्प है। शुद्ध भक्त इस भौतिक संसार के किसी उच्च पद के प्रति कभी आकृष्ट नहीं होता। वह तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की संगति में उसी प्रकार रहना चाहता है, जिस प्रकार वृन्दावन के वासी-श्रीमती राधारानी, गोपियाँ, कृष्ण के पिता तथा माता (नन्द महाराज तथा यशोदा), कृष्ण के सखा तथा उनके दास रहते थे। वह वृन्दावन की सुन्दरता के कृष्णमय वातावरण के साथ अपना सान्निध्य चाहता है। श्रीकृष्ण के भक्त की यही परम इच्छाएँ हैं। भगवान् विष्णु के भक्त भले ही अपने लिए वैकुण्ठलोक में किसी पद की कामना करते हों, किन्तु श्रीकृष्ण के भक्त कभी वैकुण्ठ लोकों की सुविधाओं तक की इच्छा नहीं रखते। वे तो गोलोक वृन्दावन वापस जाना चाहते हैं और श्रीकृष्ण की नित्य लीलाओं में संगति चाहते हैं। कोई भी सांसारिक सुख गड्डे में भरे हुए जल के समान है, किन्तु वैकुण्ठलोक में जो आध्यात्मिक सुख नित्य प्राप्त होता है, वह अमृत के समुद्र के समान है, जिसमें भक्त तैरना चाहता है।

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप ।

युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधाम्पती ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ब्रुवाणौ—बोलते हुए; अन्योन्यम्—परस्पर; धर्म-जिज्ञासया—परम धार्मिक नियम (भक्तियोग) जानने की इच्छा से; नृप—हे राजन्; युयुधाते—युद्ध किया; महा-वीर्यो—दोनों वीर; इन्द्र—राजा इन्द्र; वृत्रौ—तथा वृत्रासुर ने; युधाम् पती—दोनों महान् सेनानायक ।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—वृत्रासुर तथा राजा इन्द्र ने युद्धभूमि में भी भक्तियोग के सम्बन्ध में बातें कीं और अपना कर्तव्य समझकर दोनों पुनः युद्ध में भिड़ गये । हे राजन्! दोनों ही बड़े योद्धा और समान रूप से शक्तिशाली थे ।

आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः ।

इन्द्राय प्राहिणोद्धोरं वामहस्तेन मारिष ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

आविध्य—घुमाकर; परिघम्—परिघ को; वृत्रः—वृत्रासुर ने; कार्ष्ण-अयसम्—लोहे का बना; अरिम्-दमः—अपने शत्रु को जीतने में सक्षम, शत्रुसदन; इन्द्राय—इन्द्र पर; प्राहिणोत्—फेंका; घोरम्—अत्यन्त भयानक; वाम-हस्तेन—अपने बाएँ हाथ से; मारिष—हे राजाओं में श्रेष्ठ, महाराज परीक्षित ।

हे महाराज परीक्षित! अपने शत्रु को वश में करने में पूर्ण सक्षम वृत्रासुर ने अपना लोहे का परिघ उठाकर चारों ओर घुमाया और इन्द्र को लक्ष्य बनाकर अपने बाएँ हाथ से उस पर फेंका ।

स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम् ।

चिच्छेद युगपदेवो वज्रेण शतपर्वणा ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—उस (राजा इन्द्र) ने; तु—फिर भी; वृत्रस्य—वृत्रासुर का; परिघम्—लोहे का परिघ; करम्—उसका हाथ; च—तथा; करभ-उपमम्—हाथी के सूँड़ के समान बली; चिच्छेद—खण्ड खण्ड कर दिया; युगपत्—एकसाथ; देवः—श्रीइन्द्र; वज्रेण—वज्र से; शत-पर्वणा—एक सौ जोड़ों वाले ।

इन्द्र ने अपने शतपर्वन नामक वज्र से वृत्रासुर के परिघ तथा उसके बचे हुए हाथ को एक साथ खण्ड-खण्ड कर डाला ।

दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः ।

छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद्भ्रष्टो वज्रिणा हतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

दोर्भ्याम्—दोनों भुजाओं से; उत्कृत्त-मूलाभ्याम्—जड़ से कटी हुई; बभौ—था; रक्त-स्रवः—तेजी से रक्त की धार बहने; असुरः—वृत्रासुर; छिन्न-पक्षः—कटे पंखों वाला; यथा—जिस प्रकार; गोत्रः—पर्वत; खात्—आकाश से; भ्रष्टः—गिरकर; वज्रिणा—वज्रधारी इन्द्र के द्वारा; हतः—मारा हुआ।

जड़ से दोनों भुजाएँ कट जाने से तेजी से रक्त बहने के कारण वृत्रासुर उड़ते हुए पर्वत के समान सुन्दर लग रहा था जिसके पंखों को इन्द्र ने खण्ड-खण्ड कर दिया हो।

तात्पर्य : इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि किसी समय उड़ने वाले पर्वत हुआ करते थे और उनके पंख इन्द्र के वज्र द्वारा काट दिये गये। वृत्रासुर का विशाल शरीर एक पर्वत के समान था।

महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम्
कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् ।
नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया ॥ २७ ॥
दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम् ।
अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन् ॥ २८ ॥
गिरिराट्पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन्महीम् ।
जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

महा-प्राणः—महान् शारीरिक शक्ति वाला; महा-वीर्यः—असामान्य शौर्य से सम्पन्न; महा-सर्पः—सबसे बड़ा साँप; इव—समान; द्विपम्—हाथी; कृत्वा—रखकर; अधराम्—निचले; हनुम्—जबड़ा; भूमौ—भूमि पर; दैत्यः—असुर; दिवि—आकाश में; उत्तराम् हनुम्—ऊपरी जबड़ा; नभः—आकाश के समान; गम्भीर—गहरा; वक्त्रेण—अपने मुख से; लेलिह—साँप की तरह; उल्बण—भयानक; जिह्वया—जीभ से; दंष्ट्राभिः—दाँतों से; काल-कल्पाभिः—काल अर्थात् मृत्यु के ही समान; ग्रसन्—लीलते हुए; इव—मानो; जगत्-त्रयम्—तीनों लोकों को; अति-मात्र—अत्युच्च; महा-कायः—जिसका विशाल शरीर; आक्षिपन्—हिलाते हुए; तरसा—वेग से; गिरीन्—पर्वतों को; गिरि-राट्—हिमालय पर्वत; पाद-चारी—पाँवों से चलते हुए; इव—मानो; पद्भ्याम्—अपने पाँवों से; निर्जरयन्—कुचलते हुए; महीम्—भूपृष्ठ को; जग्रास—निगल गया; सः—वह; समासाद्य—पहुँच कर; वज्रिणम्—वज्रधारी इन्द्र को; सह-वाहनम्—उसके वाहन हाथी समेत।

वृत्रासुर अत्यन्त शक्तिशाली तथा वीर्यवान् था। उसने अपने निचले जबड़े को भूमि पर और ऊपरी जबड़े को आकाश में गड़ा दिया। उसका मुख इतना गहरा हो गया मानो आकाश हो और उसकी जीभ बहुत बड़े सर्प के सदृश लग रही थी। अपने काल के समान कराल दाँतों से वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को निगलने का प्रयास करता प्रतीत हुआ। इस प्रकार विराट

शरीर धारण करके उस महान् असुर वृत्रासुर ने पर्वतों तक को हिला दिया और अपने पाँवों से पृथ्वी की सतह को इस प्रकार मर्दित करने लगा मानो वह चलता हुआ साक्षात् हिमालय पर्वत हो। वह इन्द्र के सामने आया और उसके वाहन ऐरावत समेत उसे इस प्रकार निगल गया मानो एक बड़े अजगर ने हाथी निगल लिया हो।

वृत्रग्रस्तं तमालोक्य सप्रजापतयः सुराः ।

हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुकुशुः समहर्षयः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वृत्र-ग्रस्तम्—वृत्रासुर द्वारा निगला जाकर; तम्—उसको (इन्द्र को); आलोक्य—देखकर; स-प्रजापतयः—ब्रह्माजी समेत अन्य प्रजापतियों के साथ; सुराः—सभी देवता; हा—हाय; कष्टम्—कितना कष्ट है; इति—इस प्रकार; निर्विण्णाः—अत्यन्त दुखी होकर; चुकुशुः—विलाप करने लगे; स-महा-ऋषयः—महान् ऋषियों समेत।

जब देवताओं, ब्रह्मा समेत अन्य प्रजापतियों तथा अन्य बड़े-बड़े साधु पुरुषों ने देखा कि असुर ने इन्द्र को निगल लिया है, तो वे अत्यन्त दुखी हुए और 'हाय हाय' 'कितनी बड़ी विपत्ति'! कह करके विलाप करने लगे।

निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः ।

महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

निगीर्णः—निगला जाकर; अपि—यद्यपि; असुर-इन्द्रेण—असुरों में श्रेष्ठ, वृत्रासुर द्वारा; न—नहीं; ममार—मरा; उदरम्—उदर में; गतः—जाकर; महा-पुरुष—परमेश्वर नारायण के कवच से; सन्नद्धः—सुरक्षित रहकर; योग-माया-बलेन—इन्द्र की अपनी योगशक्ति से; च—भी।

इन्द्र के पास नारायण का जो सुरक्षा कवच था, वह स्वयं भगवान् नारायण से अभिन्न था। उस कवच के द्वारा तथा अपनी योगशक्ति से सुरक्षित होने पर राजा इन्द्र वृत्रासुर द्वारा निगले जाने पर भी उस असुर के उदर में मरा नहीं।

भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद्विभुः ।

उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

भिन्त्वा—बेध कर; वज्रेण—वज्र से; तत्-कुक्षिम्—वृत्रासुर के उदर को; निष्क्रम्य—बाहर आकर; बल-भित्—बल असुर को मारने वाला; विभुः—शक्तिशाली इन्द्र ने; उच्चकर्त—काट लिया; शिरः—सिरः; शत्रोः—शत्रु का; गिरि-शृङ्गम्—पर्वत की चोटी; इव—सदृश; ओजसा—अत्यन्त वेग से।

अत्यन्त शक्तिशाली राजा इन्द्र ने अपने वज्र के द्वारा वृत्रासुर का पेट फाड़ डाला और बाहर निकल आया। बल असुर के मारने वाले इन्द्र ने उसके तुरन्त बाद वृत्रासुर के पर्वत-शृंग जैसे ऊँचे सिर को काट लिया।

वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः

कृन्तन्समन्तात्परिवर्तमानः ।

न्यपातयत्तावदहर्गणेन

यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वज्रः—वज्र; तु—लेकिन; तत्-कन्धरम्—उसकी गर्दन को; आशु-वेगः—यद्यपि अत्यन्त तेज; कृन्तन्—काटते हुए; समन्तात्—चारों ओर; परिवर्तमानः—घूमते हुए; न्यपातयत्—गिरा दिया; तावत्—बहुत से; अहः-गणेन—दिनों से; यः—जो; ज्योतिषाम्—सूर्य, चन्द्र जैसे नक्षत्रों का; अयने—विषुवत् रेखा के दोनों ओर जाने में; वार्त्र-हत्ये—वृत्रासुर के वध के लिए उपयुक्त समय पर।

यद्यपि वज्र वृत्रासुर की गर्दन के चारों ओर अत्यन्त वेग से घूम रहा था, किन्तु उसके शरीर से सिर को विलग करने में पूरा एक वर्ष—३६० दिन—लग गया, जो सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों के उत्तरी तथा दक्षिणी यात्रा पूर्ण करने में लगने वाले समय के तुल्य है। तब वृत्रासुर के वध का उपयुक्त समय (योग) उपस्थित होने पर उसका सिर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

तदा च खे दुन्दुभयो विनेदु-

गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्गाः ।

वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना

मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; च—भी; खे—आकाश के स्वर्गिक लोकों में; दुन्दुभयः—दुन्दुभी (नगाड़े); विनेदुः—बज्र उठे; गन्धर्व—गन्धर्व; सिद्धाः—तथा सिद्धगण; स-महर्षि-सङ्गाः—महर्षियों की सभा समेत; वार्त्र-घ्न-लिङ्गैः—वृत्रासुर का वध करने वाले के शौर्य का उत्सव मनाते हुए; तम्—उसको (इन्द्र को); अभिष्टुवानाः—अभिनन्दन करते हुए; मन्त्रैः—विविध मंत्रों से; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; कुसुमैः—फूलों से; अभ्यवर्षन्—वर्षा की।

वृत्रासुर के मारे जाने पर, गन्धर्वों तथा सिद्धों ने हर्षित होकर स्वर्गलोक में दुन्दुभियाँ बजाईं। उन्होंने वृत्रासुर के संहर्ता इन्द्र के शौर्य का वेद-स्रोत्रों से अभिनन्दन किया और अत्यन्त प्रसन्न होकर उस पर फूलों की वर्षा की।

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिरिन्द्रम् ।
पश्यतां सर्वदेवानामलोकं समपद्यत ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

वृत्रस्य—वृत्रासुर के; देहात्—शरीर से; निष्क्रान्तम्—निकली हुई; आत्म-ज्योतिः—आत्मा, जो ब्रह्म तेज के समान प्रकाशमान था; अरिम्-दम—शत्रुओं का दमन करने वाले हे राजा परीक्षित; पश्यताम्—देख रहे थे; सर्व-देवानाम्—जब सभी देवता; अलोकम्—ब्रह्मतेज से पूरित, परम धाम; समपद्यत—प्राप्त किया।

हे शत्रुओं का दमन करने वाले राजा परीक्षित! तब वृत्रासुर के शरीर से सजीव ज्योति निकल कर बाहर आई और भगवान् के परम धाम को लौट गई। सभी देवताओं के देखते-देखते वह भगवान् संकर्षण का संगी बनने के लिए दिव्य लोक में प्रविष्ट हुआ।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने व्याख्या की है कि वास्तव में वृत्रासुर नहीं, अपितु इन्द्र मारा गया था। वे लिखते हैं कि जब वृत्रासुर ने हाथी समेत इन्द्र को निगल लिया तो उसने सोचा कि मैंने तो इन्द्र को मार डाला, अतः अब लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, अब मुझे भगवान् के परम धाम जाना है। इस प्रकार सोचते हुए उसने सारे शरीरिक कार्य-कलाप बन्द कर दिये और समाधि धारण कर ली। वृत्रासुर के शरीर की मौनावस्था का लाभ उठाकर इन्द्र ने असुर का पेट फाड़ डाला और वृत्रासुर की समाधि के कारण बाहर निकल आया। चूँकि वृत्रासुर योग-समाधि में लीन था, अतः यद्यपि इन्द्र उसकी गर्दन काट लेना चाहता था, किन्तु वह इतनी कठोर हो चुकी थी कि उसे खण्ड-खण्ड करने में इन्द्र को पूरे ३६० दिन लग गये। वास्तव में इन्द्र ने वृत्रासुर के उस शरीर के खण्ड-खण्ड किये जिसको उसने स्वयं त्याग दिया था; स्वयं वृत्रासुर नहीं मारा गया। वृत्रासुर अपनी आदि (मूल) चेतना में ही भगवान् संकर्षण का संगी बनने के लिए भगवान् के परम धाम चला गया। यहाँ पर *अलोकम्* शब्द दिव्यलोक, वैकुण्ठलोक को बताता है,

जहाँ संकर्षण नित्य निवास करते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध के अन्तर्गत “वृत्रासुर की यशस्वी मृत्यु” नामक बारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।